जाल समेटा

स्फुट कविताओं का संग्रह

जिनमें से अधिकांश १९६८-'७२ में रचित

जाल समेटा

बच्चन

उस अकविता को
जिसमें
कविता लय हो जाती है

अपने पाठकों से

इस शीर्षक के अंतर्गत मैं अपने पाठकों से अपनी कृतियों के विषय में कुछ निजी बातें करता रहा हूँ।

इस बार तो बहुत सी बातें करना चाहता था।

पर जब बहुत कुछ कहने को होता है तब आदमी कुछ भी नहीं कह पाता।

वही मेरी हालत है।

मुझे अपनी एक पुरानी कविता याद आती है।

जो मैं आज कहना चाहता था उसे वह, संक्षेप में, पहले ही कह चुकी है।

तो वह कविता ही क्यों न प्रस्तुत कर दूँ।

'त्रिभंगिमा' की है—

"जाल समेटा करने में भी
समय लगा करता है, माँझी,
मोह मछलियों का अब छोड़।

सिमट गईं किरणें सूरज की,
सिमटीं पंखुरियाँ पंकज की,
दिवस चला छिति से मुँह मोड़।

तिमिर उतरता है अंबर से,
एक पुकार उठी है घर से,
खींच रहा कोई बे डोर।

जो दुनिया जगती, वह सोती,
उस दिन की सध्या भी होती,
जिस दिन का होता है भोर।

नींद अचानक भी आती है
सुध बुध सब हर ले जाती है
गठरी में लगता है चोर।

अभी क्षितिज पर कुछ-कुछ लाली,
जब तक रात न घिरती काली,
उठ अपना सामान बटोर।

जाल-समेटा करने में भी,
वक्त लगा करता है, माँझी
मोह मछलियों का अब छोड़।

मेरे भी कुछ कागद पत्र,
इधर उधर हैं फैले बिखरे,
गीता की कुछ टूटी कड़ियाँ,
कविताओं की आधी सतरें,
मैं भी रख दूँ सबको जोड़।"

म, 'The wheel is come full circle —एक वत्त पूण हुग्रा—साप न मुख स पूँछ पकड ली—काव्य यात्रा के लिए यह रूपक मैंने ग्रौर कही भी प्रयुक्त किया है। हा याद ग्रा गया—

'कविता का पथ अनत सप सा
जो है मुख म पूँछ दबाए।'

(आरती और अगार)

मरी मोह मूर्तिया पर ग्राप उँगली रखना चाह तो कल्पना ग्रौर प्रयत्न ग्राप स्वय करें इस समय मैं ग्रापको किसी प्रकार का सकेत देने की मन स्थिति म नहीं हू।

मैंने मुख्यतया कविता के द्वारा ग्रपना पथ प्रशस्त किया था, पर जहाँ तक मैं ग्रा गया हूँ उसके ग्रागे मुझे लगता है कविता से प्रगति सभव न हो सकेगा ग्रब तो ग्रकविता' का उपादान बनाना होगा—यारो ने तो 'ग्रकविता' को भी कविता बना दिया है। मुझे यह मोह न व्यापे।

यात्रा ग्रागे सभव हुई और उसका वणन करने का अवसर मिला तो किसी दूसरे माध्यम से। विदा!

२० प्रसीडन्सी सामाइटी
नाथ-साउथ राड न ७
जहू पारले स्काम बबई ५६
जनवरी १९७२

—बच्चन

सूची

जाल समेटा

रक्त की लिखत

कलम के कारखाने हैं,
स्याही की फैक्टरियां है
(जैसे सोडावाटर की)
कागज के नगर है।

और उनका उपयोग दुरुपयोग
सिखाने के
स्कूल हैं,
कालेज हैं,
युनिवर्सिटियां है।

और उनकी पैदावार के प्रचार के लिए
दूकानें है,
बाजार है,
इश्तहार हैं,
अखबार है।

और लोग हैं कि आंख उठाकर उन्हें देखते भी नहीं,
उनके इतने अभ्यस्त है,
उनसे इतने परिचित हैं,
इतने बेजार है।

पर अब भी एक दीवार है
जिस पर
अपने खून में अपनी उँगली डबोकर
एक
सीधी
खडी
लकीर
खींच सकनेवाला का
एक दुनिया को इंतजार है।

रक्षात्मक आक्रमण

जगल के तो नियम
नही परिवर्तित होते—
जगल चाहे देवदार का हो
कि सभ्यता का जगल हो।

'जगल मे मगल'
तो तुक की सिफ चुहल भर,
पर जगल मे
सदा रहा है,
सदा रहेगा,
जबरदस्त का ठेंगा सिर पर।

और सभ्यता के जगल मे—
यह विकास की दिशा मान लें—
अतर करना मुश्किल होगा
पशु नर बल मे,
नर पशु छल मे।

अद्ध रात्रि के
महामौन, महदाधकार मे
एक माद से
पचानन चुपचाप निकलता,

मूक, दबे पावो से चलता—
गजन-तजन तो गवार सिहो की भाषा—
और एक भोले से मृग को देख उछलता
उसके ऊपर,
पटक उसे देता है भू पर,
श्रौ' उसके छटपटा रहे अगो को पजो दाब
कान मे उसके कहता—

'प्राण न लूगा,
बस, लेटा रह भार जरा सा मेरा सहता,
मैं तो तेरी रक्षा करने को आया हूँ,
तुझे न मैं हथिया लेता तो
शायद नाहर आकर वह तुझको खा जाता
जो पडोस के झखाडा से
ताक लगाए तुझपर रहता।
धन्यवाद दे मुझको, मर्दे!'

नि सहाय मृग प्रश्न करे क्या ?
क्या उत्तर दे ?

डरपाई-सी पौ फूटी है
दृश्य देखकर
घबराए-से कौआ के दल
उचक फुनगिया पर,
औचक, भौचक उड उडकर आसमान म
जोर-जोर स
मचा रहे है शोर—
'जोर!' जोर!' जोर!—
बाकी सब चुप
क्योकि सभी की
यही दशा है यार।

चेक आत्मदाही

'अधकार मत छाने पाए,
रवि-शशि-तारक-दल छिप जाए,
तेल चुके बाती जल जाए, तो तन-धाम दहे !
देश में बलि की प्रथा रहे !'

(त्रिभगिमा)

मैं वेदो औ' उपनिषदो के
सस्कारो का—
मैं महर्षियो के, सतो के
परिवारो का—
मैं आत्मवान ज्ञानियो और गुरुओ की
परपराओ का—
मैं कभी आत्महत्या का पक्ष नही लूगा,
पर कहा आत्मबलि
और आत्महत्या मे अतर ?—
इसको भी पहचानूगा।

पालाच देह मे
आग लगा जल जाता है,
मर जाता है—
अपने दुख, सकट, त्रास, प्यास, पीडा से
छुट्टी पाने को ?

या पीछा करते किसी भयानक सपने से ?—
सघर्ष नही कर सकता है यह, क्योकि,
जगत से, जीवन से या अपने से ?—
जी नही।

अगर इतिहास
राष्ट्र को जकड इस तरह लेता है
उसके सघर्षण करने,
हिल-डुल सकने की भी शक्ति
व्यर्थ कर देता है—
छा जाता है अवसाद अँधेरा
जन जन के मन प्राणो पर—
म्रियमाण जाति यदि नही—
एक सबका प्रतिनिधि बन उठे
स्वय बनकर मशाल
विद्रोह और विश्वास, आग बाकी है
बतला दे—
ऐसी मर्यादा है।

तू अपनी नियति निभाता है,
पालाच, तुझे मेरा प्रणाम,
मेरे स्वजनो, पुरखा,
मेरी बलिदानी परपराओ का,
तू आत्मघात कर
दलित राष्ट्र के,
दमित जाति के
नव जीवन का उपोद्घात कर जाता है।

जातिया नही मरती
कि शक्ति कोई भारी, अत्याचारी
उनपर चढ उ हे दबाती है,
वे मरती हैं
जब अपने शीश झुकाकर वे
अ यायो को सह जाती ह।

अग्निदेश

नही—
मैं यह आश्वासन नही दे सकूँगा
कि जब इस आग अगार
लपटो की ललकार,
उत्तप्त बयार,
क्षार धूम्र की फूत्कार
को पार कर जाओगे
तो निर्मल, शीतल जल का सरोवर पाओगे,
जिसमे पैठ नहाओगे,
रोम-रोम जुडाओगे,
अपनी प्यास बुझाओगे।
नही—
इस आग अगार के पार भी
आग होगी, अगार होगे,
और उनके पार फिर आग-अगार,
फिर आग अगार,
फिर और

तो क्या छोर तक तपना जलना ही होगा ?

नही—
इस आग से त्राण तब पाओगे
जब तुम स्वय आग बन जाओगे!

रावण-कस

रावण और कस को
एक दूसरे को गाली देते,
एक दूसरे पर दात पीसते,
एक दूसरे के सामने खडे होकर ताल ठाकते
देखकर बहुत खुश न हो
कि अच्छा है साले आपस ही मे कट मरेंगे।

मसीहाई का दावा नही करूँगा,
पर दुनिया को मैंने जैसा देखा जाना है,
दुमुही, दुरुखी, दुरगी,
उससे इतनी मसिहाई तो करना ही चाहूँगा
कि रावण और कस
अगर आपस मे लड मरेंगे
तो किसी दिन
राम और कृष्ण आपस मे लडेंगे।

नेतृत्व का सकट

अखिल भारतीय स्तर के अब
अमृतोदभव उच्चै श्रवा—सुरपति के वाहन—
स्वप्न हो गए—
धरती पर पग धरें
कि जैसे तपते आहन पर धरते हो,
जल पर ऐसे चले
कि जैसे थल पर चलते—
वायु-वेग से टाप न डूबें—
और गगन मे उड
एक पर्वत-चोटी को छोड
दूसरे पवत की चोटी पर जैसे
झझा से प्रेरित बादल हो,
और नही चेतक भी,
जो हो रणोन्मत्त, उद्धत, उदग्र-चचल अयाल—
उछले
गयद के मस्तक पर
टापो को धर दें,
और देश का दबा हुआ इतिहास
बास ऊपर उठ जाए,
लगा प्राण की बाजी नद्दी लाघ,
स्वामी की रक्षा मे
बलि हो जाएँ।

अब भारत के चक्करवाले रेस कोस मे
खड खड, उप खड-खड के
अपने-अपने मरियल घोडे,
हड्डियल खच्चर,
अडियल टट्टू,
लद्धड गदहे,
जिनपर गाठे हुए सवारी हैं
अनाम, अनजाने जाकी,
जो अपने स्वामी जुआरियो की बाजी पर
सुटुक-सुटुक उनको दौडाते,
हार-जीत से उन्हे गरज क्या,
उनके वाहन अपना दाना-भूसा पाते,
वे अपनी तनख्वाह पाते !

दिल्ली की मुसीबत

दिल्ली भी क्या अजाब शहर है !
यहा जब मर्त्य मरता है—विशेषकर नेता—
तब कहते हैं, वह अमर हो गया—
जैसे कविता मरी तो अकविता हो गई—
बापू जी मरे तो इसने नारा लगाया,
बापू जी अमर हो गए।
अमर हो गए
तो उनकी स्मृति को अमर करने के लिए चाहिए
एक समाधि,
एक यादगार !

दिल्ली भी क्या मजाकिया शहर है !
जो था नग रक,
राजसी ठाट से निकाला गया उसकी लाश का जलूस,
जिसके पास न थी फूटी कौडी, फूटा दाना,
उसके नाम पर खाल दिया गया खजाना,
(गाधी स्मारक निधि),
जिसका था फकीरी ठाट,
उसकी समाधि का नाम है राजघाट।

फिर नेहरू जी अमर हो गए।
अमर हो गए तो उनके लिए भी चाहिए

एक समाधि,
एक यादगार—
खुद गाधी जी ने माना था अपनी गादी पर
उनका उत्तराधिकार—
फिर वे स्वतन्त्र भारत के पहले प्रधान मन्त्री थे आखिरकार—
जो उनका निवास था
वही उनका स्मारक बना दिया गया—तीन मूरती भवन—,
समाधि को नाम दिया गया 'शाति वन',
आबाद रहे जमुना का कछार।

फिर लाल बहादुर शास्त्री अमर हो गए।
अमर हो गए तो उनके लिए भी चाहिए
एक समाधि,
एक यादगार—
वे स्वतन्त्र भारत के, गरीब जनता से उभरे,
पहले प्रधान मन्त्री थे—
(इसीसे उन्होने शून्य इकाई और एक दहाई के
जनपथ को अपना निवास बनाया था।—
टेन डाउनिंग स्ट्रीट पर
ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री का निवास
तो न कही अवचेतन मे समाया था?)
पहले विजेता प्रधान मन्त्री तो थे ही,
इसीसे उनकी समाधि का नाम विजय घाट हुआ,
ललिता जी के इसरार को दुआ,
राजघाट को अपना साथी मिला,
आखिर दो अक्टबर को उनका जन्म भी तो था हुआ।
स्मारक उनका अभी तक नही बना, बनना चाहिए।
हरी बहादुर को अपने पिता का उत्तराधिकार मिलता
तो यह काम बडी आसानी से हो जाता,
गो दोनो बातो मे ज़ाहिरा कोई नही नाता।
कुछ काम मजबूरन करना पडता है।
जिस मकान मे सिर्फ अठारह महीने प्रधान मन्त्री रहकर

वे अमर हो गए
उस मनहूस मकान मे कोई प्रधान मन्त्री,
कोई मन्त्री,
कोई हाकिम क्यो रहने लगा।
दस जनपथ है साला से खाली पडा।
क्या न उसमे शास्त्री जी का स्मारक कर दिया जाए खडा।
उनकी धोती, टोपी, रजाई, चारपाई का उपयोग
हो सकता है बडा,
देश के गरीब युवको को प्रधान मन्त्री पद तक
प्रेरित करने के लिए।

औ' हमारी वर्तमान प्रधान मन्त्री कभी अमर हुईं
(भगवान करे वे कभी न हो।)
तो उनके लिए भी एक समाधि,
एक यादगार बनानी होगी ही।
आखिर वे स्वतन्त्र भारत की पहली महिला प्रधान मन्त्री हैं।
समाधि का नाम होगा शायद महिला-उद्यान—
वन की लाडली सतान—
स्मारक होगा एक सफदरजग का उनका निवास स्थान
प्रदर्शित करने को मिल ही जाएगा उनका बहुत-सा सामान—
साडी,
जम्पर,
सिंगारदान,
चुनाव के दौरान उनकी नाक पर पडा पाषाण,
अन्न-सकट के समय उनके लान मे बोया,
उनके कर-कमलो से काटा गया धान,
और बडी यादगारो के और बडे उपादान।

विविधताओ से भरे अपने देश मे
हर एक प्रधान मन्त्री को
किसी न किसी हिसाब से पहला स्थान
दे सकना होगा कितना आसान,
सब को करना होगा महत्त्व प्रदान,

सब के लिए बनानी होगी समाधि,
सब की बनानी होगी यादगार,
सब के नाम पर छोड़े जाते रहेंगे मकान—
जैसे पहले छोड़े जाते थे साँड—
सब के नाम पर लगाए जाते रहेंगे
वन, उद्यान, पार्क।
कहा तक खींचा जा सकेगा जमुना का कछार।

इसलिए, हे भगवान,
तुमसे एक प्रार्थना,
भारत का हर प्रधान मंत्री
सौ सौ बरस तक अपनी गद्दी पर रहे बना,
क्योंकि हरेक अमर होकर अगर घेरेगा
कई-कई बगमील,
दिल्ली बेचारी इतनी जमीन कहा से लाएगी!
बदकिस्मत आखिर को
समाधि और स्मारको की नगरी बन के रह जाएगी!

वे अमर हो गए
उस मनहूस मकान में कोई प्रधान मंत्री,
कोई मंत्री,
कोई हाकिम क्यों रहने लगा।
दस जनपथ है सालों से खाली पड़ा।
क्यों न उसमें शास्त्री जी का स्मारक कर दिया जाए खड़ा।
उनकी धोती, टोपी, रजाई, चारपाई का उपयोग
हो सकता है बड़ा,
देश के गरीब युवकों को प्रधान मंत्री पद तक
प्रेरित करने के लिए।

औ' हमारी वर्तमान प्रधान मंत्री कभी अमर हुईं
(भगवान करें वे कभी न हों।)
तो उनके लिए भी एक समाधि,
एक यादगार बनानी होगी ही।
आखिर वे स्वतन्त्र भारत की पहली महिला प्रधान मंत्री हैं।
समाधि का नाम होगा शायद महिला उद्यान—
वन की लाडली संतान—
स्मारक होगा एक सफदरजंग का उनका निवास स्थान
प्रदर्शित करने को मिल ही जाएगा उनका बहुत सा सामान—
साड़ी,
जम्पर,
सिंगारदान,
चुनाव के दौरान उनकी नाक पर पड़ा पाषाण,
अन्न-संकट के समय उनके लान में बोया,
उनके कर-कमलों से काटा गया धान,
और बड़ी यादगारों के और बड़े उपादान।

विविधताओं से भरे अपने देश में
हर एक प्रधान मंत्री को
किसी न किसी हिसाब से पहला स्थान
दे सकना होगा कितना आसान,
सब को करना होगा महत्त्व प्रदान,

सब के लिए बनानी होगी समाधि,
सब की बनानी होगी यादगार,
सब के नाम पर छोड़े जाते रहेंगे मकान—
जैसे पहले छोड़े जाते थे सांड—
सब के नाम पर लगाए जाते रहेंगे
वन, उद्यान, पार्क।
कहां तक खींचा जा सकेगा जमुना का कछार।

इसलिए, हे भगवान,
तुमसे एक प्रार्थना,
भारत का हर प्रधान मंत्री
सौ सौ बरस तक अपनी गद्दी पर रहे बना,
क्योंकि हरेक अमर होकर अगर घेरेगा
कई-कई वर्गमील,
दिल्ली बेचारी इतनी ज़मीन कहां से लाएगी!
बदकिस्मत आखिर को
समाधि और स्मारकों की नगरी बन के रह जाएगी!

सघर्ष-क्रम

एक दिन इसान को सघप करना पडा था
अपने को बचाने को
अघ प्रकृति के आघातो से—
बर्फीली, काटती-सी बयारो से,
गर्दीली, मुहँ नोचती-सी लूआ से,
छर्रे बरसाती बौछारा से
जगलो से, दलदलो से, नदिया-
प्रपाता से।

एक दिन इसान को सघप करना पडा था
अपने को बचाने को
सरी सृप, परिंदा औ' दरिंदा से—
गाजर, बिच्छू, सर्पों से,
गरुडा से, गिद्धा से,
लक्कडबग्घा, कुत्ता से,
भेडिया से, चीता स,
सिहा से।

एक दिन इसान को सघप करना पडा था
अपने को बचाने को
राजाआ, शाहा, सुल्ताना से,
हमलावर खड्गधर लुटेरा स,

शोषण पर तुले धन कुबेरो से,
सम्प्रदाय, रूढि, रीति के
स्वय-नियुक्त ठेकेदारो से,
निदय बटमारो से।

एक दिन इसान को सघष करना पडा था
अपने को बचाने को
आदम की आदमी कहलाती औलादो से—
तक लुप्त, लक्ष्य-भ्रष्ट भीडो से—
सज्ञा व्यक्तित्वहीन कीडो से,—
अस्त्र-शस्त्र यत्र बने जीवो से—
शासन के आत्महीन पुरजो से, क्लीवो से—
और जतुओ से जो
नेता, निर्णायक, जननायक, विधायक का
स्वाग भर निकलते थे
मत्रालय, न्यायालय, सचिवालय,
ससद की मादो से !

मेरा सबल

मैं जीवन की हर हलचल से
कुछ पल सुखमय,
अमरण - अक्षय
चुन लेता हूँ ।

मैं जग के हर कोलाहल मे
कुछ स्वर मधुमय,
उन्मुक्त - अभय
सुन लेता हूँ ।

हर काल कठिन के बधन से
ले तार तरल
कुछ मुद - मगल
मैं सुधि - पट पर
बुन लेता हूँ ।

शरद् पूर्णिमा

पूरे चाद की यह रात,
जैसे भूमि को हो
स्वग की सौगात।

पुलकित से घरा के प्राण
सौ सौ भावनाओ से
अगम अज्ञात।
पूरे चाद की यह रात।

धरती तो अधूरी
सब तरह से,
सब तरफ से,
अजली मे धार
प्रत्युपहार क्या
ऊपर उठाए हाथ!
पूरे चाद की यह रात।

नई दिल्ली किसकी है ?

यो तो यह राजधानी है,
यहा राष्ट्रपति रहते हैं,
प्रधान मत्री,
राजमत्री उपमत्री
दर्जे ब-दर्जे सचिव,
अफसर अहलकार-ओहदेदार,
अखबार नवीस, सेठ साहूकार,
कवि, कलाकार साहित्यकार,
जिनके नाम, कारनामो से
दिन भर
पथ पथ, माग माग ध्वनित,
गली गली

गुजित रहती है

पर नवबर की इस आधी रात की
नई दिल्ली तो
चाँद की है,
चादनी की है,
रातरानी की है
और उस पमेरू की
जिसकी अकेली, दर्दीली आवाज़
राष्ट्रपति भवन के गुबद स लकर

ससद सचिवालयो पर होती
पुराने किले के मेहराबो तक गूजती है,
और न जाने किससे,
न जाने क्या कहती है !
और उस नीद-हराम अभागे को भी,
जो उसे अनकती है।

रेखाएँ

हस्तरेखाविदो तुमने
देखकर मेरी हथेली
कह दिया है,
बन सका जो मैं,
किया जो प्राप्त मैंने,
बन सका जो नहीं,
अनपाया रहा जो,—
सब विधाता ने प्रथम ही लिख रखा था
खींच मेरे हाथ पर संकेत गर्भित कुछ लकीरें।

पर समय ने
अनुभवों की झुर्रियों में
जो लिखा है
भाल पर भी,
गाल पर भी,
और मैंने कष्ट-संकट की घड़ी में,
जिन्दगी के बहुत नाजुक अवसरों पर
परेशानी हलाकानी के क्षणों में,
रेख राशि
दिमाग पर खींची खरोंची जो
कि जैसे कील नोकीली चलाई जाय
बल-पूर्वक शिला पर,

ग्रौर ग्रपनी प्रेरणाग्रो के पलो म
कल्पना की धार मे
बहती हुई सी
मृदु सहजगति लेखनी से—पर विनिर्मित—
जो लिखा मैंने
हृदय-मन-बुद्धि पट पर,—
नही कोरे कागदो पर—
राजसी फरमान को भी ईर्ष्या हो
देख जिसको—
ग्रथ उसका,
भेद उसका,
मम उसका,
तुम न समझे हो
न समझोगे, फकीरे।

एक पावन मूर्ति
(केवल वयस्कों के लिए)

'रस से पावन, हे मन-भावन विधना ने विरचा ही क्या है।'
(त्रिभंगिमा)

तीर्थाधिराज
श्री जगन्नाथ जी के मंदिर की चौकी में
जो मिथुन मूर्तियां लगी हुई
मैं उन्हें देखता एक जगह पर ठिठका हूँ—

प्राकृतिक नग्नता की सुषमा में ढली हुई
नारी घुटनों के बल बैठी,
उसकी नंगी जंघा पर नंगा शिशु बैठा,
अपने नन्हे नन्हे, सुकुमार,
अपरिभाषित सुख अनुभव करते हाथों से
अपनी जननी के पीन पयोधर को पकड़े,
ऊपर मुँह कर
दुद्धू पीता—
अधरों में जैसे तृप्ता दुग्ध की
तृष्णा स्तन के सरस परस की तृप्त हुई
भोली भाली, नैसर्गिक सी मुसकान बनी
गालों, आँखों, पलकों, भौंहों से छलक रही।
(मातृत्व सफलता मूर्तित देखी और कहीं ?)

प्राकृतिक नग्नता के तेजस में ढला हुआ
नर पास खड़ा,
नग्ना नारी
अपने कृतज्ञ, कामनापूर्ण, कोमल, रोमांचित हाथों से
पति पुष्ट-दीर्घ दृढ़ शिश्न दंड क्रीड़या पकड़,
हो ऊर्ध्वमुखी,
अपने रसमय अधरों से पीती,
अधरामृत-मज्जित करती—
मुख मुद्रा से विदित होता
वह किम्, कैसे, कितने सुख का
आस्वादन इस पल करती है!—
(पल काल चाल में जो निश्चल)।
(जब कला पकड़ती ऐसे क्षण,
उसके ऊपर,
सच मान,
अमरता भरती है।)

नवयुवक नग्न
जैसे अपना संतोष और उल्लास
चरम सीमा तक पहुँचा देने को,
अपने उत्थित हाथों से पकड़ सुराही,
मदिरा से पूर्न्हत,[1]
मधु पीता है—आनन्द मग्न!
(लगता जिसपर यह घटता
वह कृतकृत्य मही।)

ईर्ष्या न किसे उससे
जो ऊपर से नीचे तक
ऐसा जीवन जिया

---

१ पूरित पूर्न्हत प्रूफ की गलती से नहीं सचेष्ट एक विशेष ध्वन्यार्थ देने के लिए।

कि एसा जीता है।
(हर सच्चा-सीधा कलाकार
अभिव्यक्त वही करता
जो वह जीता,
जो उसपर बीता है।)

इस मूर्तिरूप का कण-कण
अपनी जिजीविषा घोषित करता।
यह जिजीविषा, या जो कुछ भी,
उसको मैं अपने पूरे तन, पूरे मन, पूरी वाणी से
निःशंक समर्पित अनुमोदित, घोषित करता।

अमृत पीकर के नहीं,
अमर वह होता है,
वह मर्त्य देह,
जो जीवन-रस हर एक रूप,
हर एक रंग में
छककर, जमकर पीता है।
इतने में ही कवि की सारी रामायण,
सारी गीता है।

'मधुशाला' का पद एक
अचानक कौंध गया है कानों में—

'नहीं जानता कौन, मनुज
आया बनकर पीनेवाला ?
कौन, अपरिचित उस साकी से
जिसने दूध पिला पाला ?
जीवन पाकर मानव पीकर
मस्त रहे इस कारण ही,
जग में आकर सबसे पहले
पाई उसने मधुशाला।'

क्या इसी भाव पर आधारित यह मूर्ति बनी ?

क्या किसी पुरातन पूर्व योनि मे
मैंने ही यह मूर्ति गढी ?
प्रस्थापित की इस पावनतम देवालय मे,
साहस कर, दृढ विश्वास लिए—
कोई समान धर्मा मेरा
तो कभी जन्म लेगा
जो मुझको समझेगा ?

यदि मूर्ति देख यह
तेरी आँखें नीचे को गडती
लगती है तुझे शर्म,
(जीवन के सबसे गहरे सत्य
प्रतीकों मे बोला करते ।)
तो तुझे अभी अज्ञात
कला का,
जीवन का,
धर्म का,
मूढमति,
गूढ मर्म ।

विजयानगरम् की सुराही

यह मत्स्याकार सुराही
मिट्टी की
मैं विजयानगरम् से ले आया हूँ।

यह मिट्टी की मछली कहती—
मैं जड़ होकर भी
सला प्राण हूँ,
ज्ञानी हूँ।
जीवित मछली
तो पानी के भीतर बसकर भी
पानी को अपने से बाहर रखती है,
बस इसीलिए
वह पानी से बाहर आते ही मरती है।
पानी से बाहर
मैं थी दुहरी मरी हुई
पर अब जीवन धारिणी,
क्योंकि अब अंदर रक्खे पानी हूँ।

सागर-तीरे

अनादि अतीत से
जो लहरें
उठ, उमड, हहर, घहर, गिर,
बूंद बूंद मे छहर
सागर मे लीन विलीन हो गईं—सदा को—
उनका,
उन सब का नवीन लहरो को ज्ञान है,
फिर भी नई-नई लहरें
फिर-फिर
उठती, उमडती, हहरती, घहरती, गिरती,
बूंद बूंद मे छहरती हैं।

सागर तट पर खडे होकर देखो—
नई-नई लहरो मे कितनी होडा होडी है!
लहरो का यह उल्लास,
हास,
विलास,
सच पूछो तो लहरो की नही
सागर की कमज़ोरी है।

अकादमी पुरस्कार

"जिसने 'सार्त्र के नोबेल पुरस्कार ठुकरा देने पर' कविता लिखी थी उसे चाहिए था कि वह अकादमी पुरस्कार ठुकरा देता।' —कै०

सार्त्र के सामने गिरा एक फुटबाल
तो उन्होंने ऐसी किक मारी
कि देखती रह गई दुनिया सारी,
मैंने भी प्रशंसा मे देर तक बजाई ताली,
एक रही मौन
तो सिमोन दि-बुआ।

मेरे सामने गिरा एक पिंग पांग का बाल
तो मैंने उसे उठाया
और जेब मे लिया डाल।

कुछ मित्र और कुछ शत्रु
हुए निराश,
क्योंकि उन्हे थी आस
कि मैं भी पिंग पांग के बाल को किक लगाऊँगा—
यानी अपना उपहास कराऊँगा।

प्रतिभा के अनुकरण से भी होता है
कुछ अधिक उपहासास्पद?

एक मैं ही रह गया था कराने को अपनी भद ?
कमर मे घडी
तो पडित सुदरलाल ने भी बाधी।
हो गए गाँधी ?
कोई सान की बरावरी करेगा
तो सृजन को उन्ही की तरह निखारकर,
न कि उनकी तरह किक मारकर।

कुछ जल्दबाजी,
कुछ नाराजी,
कुछ प्रदशन प्रियता मे
यह भी मैं कर सकता था,
पर भगवान की दुआ,
जो सुन रहा हूँ,
'देखने हम भी गए थे पे तमाशा न हुआ।'

प्रेम की मंद मृत्यु

मैंने आत्म हत्या नही की
तो इसलिए नही
कि कानून इसके खिलाफ था,
कर ही ली होती
तो क्या कर लेता वह मेरी लोथ का ?

प्राणो को काया से
मैंने नही जोडा था,
तोड अगर देता तो मुझको अधिकार था।
लेकिन जिस बंधन से
मैंने तुम्हे, तुमने मुझे बाधा था
तार था प्यार का।
और उसे छूने का किसे अख्तियार था ?
ध्यान तब न आया था समय के
नितांत शिथिल दिखते से
चिर सक्रिय क्रूर कठिन हाथ का!

अगर एक झटके से
देता वह तोड उसे
उठती झकार एक
गूजती सितारो तक परत परत गगन भेद।
लेकिन वह धागा अब काल-जीर्ण,

शक्ति-क्षीण,
सडा गला,
हिलो नही,
खिचो नही,
तनो नही, —
ाह शोखी यौवन ही झेल खेल सकता था—
जहा और जैसी हो,
बुत-सी बन बैठी रहो,
समय सहो,
बधन गिरेगा जब तिनका उठेगा नही
करने को प्रकट खेद।

पानी-पत्थर

एक
निधड़क
मुक्त निर्झर से
पिया है नीर मैंने,
कंठ ही भरे नहीं सिंचित हुए हैं,
तृप्ति अंतर ने नहीं जानी अकेली,
आँख भी ठंडी हुई है,
जी जुड़ाया है,
तपन मन की मिटी है, —
नहीं, —
जानी है, सही है
स्वयं निर्झर के
हृदय में पैठने की
पूर्णता औ' पीर मैंने—
वह घड़ी
कितनी अविस्मरणीय
जीवन में रही है।

क्षमा कर दो मुझे
तट से सधी नदियो,
बँधी घाटों से सरसियो,
क्षुद्र बंधों से घिरे कूपो,

अवज्ञा से
अगर देखा तुम्हे है कभी मैंने।

क्या तुम्हारे शाप से ही नही
पथरीला इलाका मिला मुझको ? —
जहा कोई आग ऐसी बटी भडकी थी
कि तृण-तृण जल गया है।

धूम्र-काले ठीकरो की ठोकरें खाते,
तृपाकुल,
बैठ ऐसे एक पत्थर पर गया हूँ
रिस रहा जो—रो रहा जो।
विवश हाकर चाटती है जीभ उसके आसुओ को
रक्त-रजित उसे करती।
बहुत गहरे एक डूबी याद
आखो मे उभरती।

मध्यस्थ

मैंने कभी सोचा था
कि मैं प्रारभ हूँ
किन्ही आगामी परिणतिया का,
और आज अपनी परिणतियो पर सोचता हूँ
कि ये भूमिकाएँ है
किसी आगामी प्रारभ की—
रीढ कभी न कभी तो टूटनी थी
मेरे दभ की।

मनुष्य को दो आखें मिली हैं—
एक, विगत से अपने का देखने को,
एक, अनागत से—
एक फर्श से,
एक छत से।
और फर्श से हम कितना ही क्या न उठें,
छत से उतने ही नीचे रहते है,
हम दो समान बढती हुई दूरियो के बीच
अपनी सत्ता सहते है।

और कल्पित आदि
और कल्पित अत के बीच
हमे सदा

मध्यस्थ बने रहना है,
मध्य को ही जीना,
मध्य को ही भोगना,
मध्य को ही कहना है।

मनुष्य-ससार-जीवन
त्रिशकु से अधिक कभी कुछ नही रहा है,
सच,
इसे न धरा ने सहा है,
न स्वर्ग ने सहा है।

लब्धि-उपलब्धि

उपलब्धि
कुछ करने को ही तो
मा बाप-गुरुओ, बडे बूढो ने सिखाया था,
और सिखाया था वही
जो उन्होने सस्कारो से पाया था।

उपलब्धि से क्या था उनका अर्थ—
विश्वविद्यालय की ऊँची उपाधि,
कार्यालय की ऊँची कुर्सी,
ऊँचा वेतन,
ऊँचे खान्दान मे ब्याह
सतान,
ऊँचा मकान,
और चारो ओर सुख सुविधा का सामान ?

तब मेरे अदर से किसने किया था उनपर व्यग्य—
हुँ —है ये उपलब्धिया।—उप लब्धिया!
मेरे, लब्धियो के है अरमान,
उन्ही के लिए होगा मेरा
अश्रु-स्वेद-रक्त प्रवहमान,
तुम्हारी परिभाषा की उपलब्धिया
होगी बस मेरी लब्धियो का पासग!

और अब जीवन भर के संघर्ष के बाद
पासंग ही पासंग
है मेरे पास।

लब्धियों से न मुझे संतोष—
शायद मेरा ही दोष—
न उनपर मेरा अधिकार,
उनमें मेरा अधूरा-सा,
चूरा-सा अरमान
हो गया है दूसरों को दान।

स्वप्न और सीमाएँ

मेरे हाथ छोटे ही छोटे रह गए
तो दोष मैं किसे देता ?—
माता पिता को ?—
वे मेरे जननी-जनक थे,
मेरे सिरजनहार तो नही थे।

सस्कार कानो मे कहते रहे,
तुम अपने सजक हो,
दोष दो अपने ही पूव जन्म-कर्मो को,
जो तुम हो
उसके लिए स्वय उत्तरदायी हो।

आधे सदेह
और आधे विश्वास बीच
कीच मे फँसी हुई-सी मेरी बुद्धि अपरिपक्व
कभी-कभी कहती रही,
क्वचित भाग्य ही न कही
मेरा निर्माता हो—
जिसके हैं कान नही, जीभ नही, आख नही।

और आख दो-दो रख
वामन के हाथ मैंने

उठा लिया धन्वा एक
ढीली-सी तात का,
कैसी थी विडम्वना !—
कम एक भाग्य जना,
भाग्य एक कम जना।
दूर लक्ष्य,
उच्च लक्ष्य,
गगन लक्ष्य मुझको ललचाते रहे,
और मेरे वामन कर
जोड जोड ढीली सी डोरी पर ढीला शर
भूमि पर चुआते रहे।

स्वप्न रहा—
दृढ-हस्त मुट्ठी मे ग्रस्त चाप,
चुटकी मे दवा हुआ वाण-मूल
अग्रशूल,
प्रत्यचा खिची हुई
कोण वनी हुई
कर्ण स्पर्श प्राप्त
तदनुकूल
सुता, कसा, तना हुआ सब शरीर,
लक्ष्य साध मुक्त तीर,
मानो हो क्रुद्धमन महर्षि शाप !

गलतफहमी

तुमने हमने
जीवन जिया—
और कैसे कैसे—
पर हमें क्या मिला ?
हमने क्या पाया ?—
तुम्ही कहो।

× ×

गलतफहमी में हो
तुमने हमने
जीवन नहीं जिया
जीवन ने हमको जिया
मिलने पाने के सवाल का हो,
तो हमें क्यों,
उसे सिरदर्द हो !

कड़ुआ पाठ

एक दिन मैंने प्यार पाया, किया था,
और प्यार से घृणा तक
उसके हर पहलू को एकात म जिया था,
और बहुत कुछ किया था,
बहुत कुछ सहा था,
जो मुझसे भाग्यवान अभागे करते हैं, भोगते हैं,
मगर छिपाते हैं,
मैंने छिपाए को शब्दा मे खोला था,
लिखा था, गाया था, सुनाया था,
कह दिया था
गीत मे, काव्य मे,
क्योकि सत्य कविता म ही बोला जा सकता है।

× ×

निचाट मे अकेला खडा वह प्रासाद
एक रहस्य था, भेद भरा, भुतहा,
बहुतो ने सुनी थी
रात बिरात, आधी रात
एक चीख, पुकार, प्यार की मनुहार,
मदमस्तो का तुमुल उन्माद, अट्टहास,
कभी एक तान, कभी सामूहिक गान,
दुखिया की आह, चोट खाए घायल की कराह,
फिर मौन (मौन भी सुना जा सकता है)

पूछता-सा क्या ? कब ? कहाँ ? कौन ? कौन ? कौ न ?
मैं भी भूत हो जाऊँ, उसके पूर्व सोचा,
एक पारदर्शी द्वार है जो खोला जा सकता है।

भूतो का भोजन है भेद, रहस्य, अधकार,
भूतो को असह्य उजियार,
पार देखती आख,
पार से उठता सवाल।
भूतो की कचहरी भी होती है।
हो चुका है मुझसे अपराध,
भूतो का दल तनाया भिनाया, मुझपर टूट
माग रहा है मुझसे
अपने होने का सबूत।

दरिया मे डूबता सूरज,
झुरमुट मे अटका चाद,
बादल से झाँकते तारे,
हरसिगार के झरते फूल,
दम घोटती सी हवा,
विष घोलती सी रात,
पावा से दबी दूब,
घर, दर, दीवार,
चली, छनी राह,
पल, छिन, दिन, पाख, मास—
समय का सारा परिवार—
मूक!—

मेरे शब्दो के सिवा कोई नही है मेरा गवाह।—
मैंने महसूस कर ली है अपनी भूल,
सीख लिया है कड़ुआ पाठ,
पारदर्शी द्वार नही खोला जा सकता है।
सत्य कविता मे ही बोला जा सकता है।

उन्होंने कहा था

नहीं, धूप में मैंने बाल सफेद किए हैं—
बहुत ज़माना देखा है,
दुनिया देखी है,
सुख दुख देखा, विजय-पराजय देखी,
अपने भी, औरों के जीवन में भी
आई-गई बहुत देखी है,
उदय प्रेम का
और नशा भी उसका
और खुमारी उसकी
औ' उतार भी कई बार मैं देख चुका हूँ—
जो कहता हूँ अपने अनुभव से कहता हूँ,
शायद उसे अभी सच मानो।

बस, उमर ही यह ऐसी होती है जिसमें
लगती है हर गधी परी,
हर गदा शाह-जोरावर—
इनसान—कभी हैवान—कभी पाषाण—
देवता और कभी भगवान
बराबर भी लगता है,
और प्रेम का मारा जाता
उसी तरह सम्मोहित कर

उनपर होता बलिहार
और पूजा उनकी करने लगना है।

खुशकिस्मत है
जो ऐसे भ्रम में अपने को
जीवन भर डाले रहते हैं
और देवता को भी अपने डाले रहते—
कमउम्री पर मौत बड़ी रहमत करती है,
किंतु अभागे जो ज्यादा दिन जीते
उनका नशा उतरता,
उनकी आंखों के ऊपर से पर्दा हटता
औ' जीवन की कटु-कठोर सच्चाई उनके आगे आती।
सत्य जान लेना छोटी उपलब्धि नहीं है,—
किसी मूल्य पर—
बदकिस्मत को भी मुआविजा कुछ मिलता है।

वही तुम्हारी उम्र,
तुम्हारी आंखों में है वही नशा-सा,
वही गलतियां तुम करते,
आराध्य तुम्हारे हैं मुगालते में वैसे ही।
मैं कहता हूं, शायद इसे कभी सच पाओ।—
जिओ उम्र भी मेरी लेकर,
मैं तो यही दुआ करता हूं—
मोह-भंग करना ही तो है काम वक्त का।

सच्चाई टूटती, मनुष्य उसे सह लेता,
सपने जब टूटते, टूट वह खुद जाता है—
गो कि टूटना सदा बुरा ही नहीं—
टूटने से भी कोई-कोई मुठ बन जाया करते।
टूटोगे तो, बरस बड़े दयनीय लगोगे—
पातक इससे बड़ा नहीं दुनिया के अंदर।—

'वाल ि
'दपण
'बुढाप

चादर

झीनी बिनरी झीनी
चादर
भीगी भीगी,
भारी भारी,
उपर तन से, मन से लिपटी।

घनी भुजाओं,
कसी मुट्ठियों,
लोह उँगलियों से
मैंने तो अपनी चादर खूब निचोड़ी।

अब जिसका जी चाहे
उसपर बैठे, लेटे,
उसे समेटे,
तह लपेटे,
रख ले, दे डाले या फेंके,
निर्ममता, निर्लिप्त भाव से
मैंने छोड़ी।

बुढापा

'बाल सिर के सफेद हो चले आपके।'
'दर्पण से तो मुझे ऐसा नही लगता है।'
'बुढापा कभी कभी आखो से भी उतरता है।'

बुढापा

'वाल सिर के सफेद हो चले आपके ।'
'दपण से तो मुझे ऐसा नही लगता है ।'
'बुढापा कभी कभी आखो से भी उतरता है ।'

बूढा किसान

अब समाप्त हो चुका मेरा काम।
करना है बस आराम ही आराम।
अब न खुरपी, न हँसिया,
न पुरवट, न लढिया,
न रतरखाव, न हर, न हगा।

मेरी मिट्टी मे जो कुछ निहित था,
उसे मैंने जोत बो,
अश्रु-स्वेद रक्त से सीच, निकाला,
काटा,
खलिहान का खलिहान पाटा,
अब मौत क्या ले जाएगी मेरी मिट्टी से—ठेंगा!

मौन और शब्द

एक दिन मैंने
मौन मे शब्द को धँसाया था
और एक गहरी पीडा,
एक गहरे आनन्द मे,
सन्निपात ग्रस्त सा,
विवश कुछ बोला था,
सुना, मेरा वह बोलना
दुनिया मे काव्य कहलाया था।

आज शब्द मे मौन को धँसाता हूँ,
अब न पीडा है न आनन्द है,
विस्मरण के सिंधु मे
डूबता सा जाता हूँ,
देखूँ,
तह तक
पहुँचने तक,
यदि पहुँचता भी हूँ,
क्या पाता हूँ।

◆ ◆ ◆

लेखक-परिचय

बच्चन का ख्याति मधुशाला' के साथ हुई जो १६३५ म प्रकाशित हुई और जो तब से अब तक लोकप्रियता के शिखर पर है।

हरिवंशराय बच्चन का जम २७ ११-१६०७ को प्रयाग मे हुआ। उनकी शिक्षा म्युनिसिपल स्कूल, कायस्थ पाठशाला, गवनमेंट कालेज, इलाहाबाद युनिवर्सिटी और काशी विश्वविद्यालय म हुई। १६४१ से '५२ तक वे इलाहाबाद युनिवर्सिटी मे अग्रेजी के लेकचरर रहे। १६५२ से '५४ तक इग्लड म रहकर उन्होंने केम्ब्रिज युनिवर्सिटा से पी एच० डी० की डिग्री प्राप्त की। विदेश से लौटकर उन्होंने एक वष अपने पूव पद पर तथा कुछ मास आकाश-वाणी, इलाहाबाद म काम किया। फिर सोलह वष दिल्ली रहे—दस वष विदेश मत्रालय मे हिंदी-विशेषज्ञ के पद पर और छह वष राज्यसभा के मनोनीत सदस्य के रूप मे। अप्रल, '७२ से बम्बई रहते हैं। अपने बडे बेटे अमिताभ के साथ जो सिने-गगन के नवोदित नक्षत्र हैं।

बच्चन ने मुख्यत कविताओ के द्वारा अपना और अपने कलाकार का पथ प्रशस्त किया है जिनम देशी-विदेशी कविता के अनुवाद भी प्रचुर हैं। साथ ही निबध-वार्ता, आलोचना, काव्य सग्रहों की भूमिका के रूप मे उन्होंने गद्य भी कम नही लिखा। और इधर तो अपनी आत्मकथा के माध्यम से जो गद्य उन्होंने दिया है वह अपनी प्राजलता प्रेषणीयता और प्रौढता के कारण उनकी कविता के लिए भी एक चुनौती सिद्ध हुआ है।